



Date: 15-10-26

Drugs and bullets

Punjab is seeing a rise in narcotrafficking and targeted killings

Editorial



A chemist has been charged with killing anti-drug-trafficking activist Parvinder Singh Jhota after his allegedly illegal drug business came under threat. Separately, social media influencer Mad Sandhu was allegedly the victim of a premeditated, transnational syndicate hit that used inter-State escape routes. Both events in Punjab involved digital platforms and both events expose a dire gap in public safety. While Mr. Jhota's alleged murderer was a local chemist, the macro-level drug trade in Punjab is intertwined with gangster networks, with the cross-border drug smuggling known to be a key source of illicit funds. Together with a string of targeted killings of police personnel and local politicians, the incidents depict a Punjab caught between local drug trafficking and citizens resorting to vigilantism and crime syndicates carrying out

assassinations with disquieting ease. Some events have also raised suspicions of cross-border support and a demand to involve enforcement agencies. The AIIMS Magnitude of Substance Use in India survey estimated that in 2017-18 — the latest year for which it is available — 1.28% of Punjab's population aged 10-75 years had an opioid dependence, versus 0.26% nationally. NCRB data also recorded 106 drug overdose deaths in 2024 versus 89 in 2023, in Punjab, likely an undercount since attribution depends on medical certification and excludes long-term complications and unhygienic habits associated with drug use.

Punjab's geopolitical location renders it an important entry point and market, with the security apparatus hampered by smugglers using multiple transport modes. The Global Initiative Against Transnational Organized Crime reported in June that India's pharmaceutical and chemicals industries also provide bad actors with ample opportunities to divert controlled substances or precursors for illicit use. The State's 'Yug Nashian Virudh' campaign of 2025 has also claimed 68,850 arrests of alleged traffickers and the attachment or confiscation of assets valued ₹319 crore. However, cases registered differ from convictions and asset attachment differs from forfeiture. Mr. Jhota's hostile tactics also enjoyed public support, and authorities need to examine why the people are overlooking formal reporting channels. Under its narcotics policy, the State has to reduce the availability of harmful drugs, disrupt wholesale supply chains, identify corrupt facilitators, and expand access to rehabilitative care. Paralleling investigations into the coordination of targeted killings, an anti-trafficking strategy must also probe the financing and logistics of networks, to dismantle institutional collusion, and better protect threatened individuals.



दैनिक भास्कर

Date: 15-10-26

सूखे का सबसे ज्यादा असर किस वर्ग पर पड़ने वाला है?

संपादकीय

आम धारणा है कि आर्थिक विकास का एकमात्र पैमाना जीडीपी है। इस साल के सूखे (12.6% कम औसत बारिश) पर भी कुछ अर्थशास्त्री कहने लगे हैं कि सन् 1987-88 के बाद से सूखे से राष्ट्रीय जीडीपी ही नहीं, कृषि जीडीपी पर भी विपरीत असर पड़ना बंद हो गया है। इस धारणा का आधार है कृषि क्षेत्र में भी डेयरी, फिशरी, पोल्ट्री, पशुधन आदि का भारी प्रसार। यह सच है कि औसत किसान की आय में आज खेती का हिस्सा मात्र 39% ही रह गया है। फिर सिंचाई में निजी नलकूपों और अन्य तरीकों के विकास से भी कृषि जीडीपी में कोई खास अंतर शायद न आए और राष्ट्रीय जीडीपी भी अपनी गति से बढ़े। यह भी सच है कि जीडीपी में कृषि का योगदान- जो आजादी के समय 52% था- आज सिर्फ 16% रह गया है। लेकिन ये अर्थशास्त्री भूल रहे हैं कि गांवों में एक बड़ा वर्ग खेती के साथ डेयरी पर आश्रित है। अगर खेती का रकबा या पैदावार घटेगी तो जानवरों का चारा भी महंगा होगा। मक्के से एथेनॉल बनाने के कारण मुर्गियों का फीड महंगा हुआ है और अंडों के दाम बेतहाशा बढ़े हैं। चूंकि भारत में 86% कृषक परिवारों के पास एक हेक्टेयर से भी कम जमीन है, लिहाजा अगर सूखे के कारण इनकी आय घटी तो दवा, बच्चों की फीस और जीवन की अन्य प्रमुख जरूरतों के लिए इनके पास पैसा नहीं बचेगा। 60% आबादी वाले ग्रामीण भारत में क्रय-शक्ति नहीं होगी तो तेल- साबुन जैसे एमएसएमई सेक्टर के उत्पादों की खपत भी कम होगी। केवल जीडीपी बढ़ने को जनता की खुशहाली का पैमाना मानना गलत होगा।

Date: 15-10-26

लोकतंत्र केवल चुनावों तक ही सीमित नहीं हो सकता है

आशुतोष वाष्णीय, (ब्राउन यूनिवर्सिटी, अमेरिका में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर)

लोकतंत्र के सिद्धांतकार लंबे समय से मानते रहे हैं कि भारत का लोकतंत्र असाधारण रहा है। इससे पहले अमीर और औद्योगिक देशों में ही लंबे समय तक लोकतंत्र बना रहा था। आजादी के बाद कई दशकों तक भारत गरीब

और बहुत कम औद्योगीकृत था, फिर भी वह लोकतांत्रिक बना रहा। यह चकित करता था, क्योंकि भारत में लोकतंत्र के लंबे समय तक टिके रहने की संभावना बहुत कम मानी जाती थी।

1966 में बैरिंगटन मूर जूनियर- जो 'सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एंड डेमोक्रेसी' किताब के लेखक थे- ने कहा था : ...एक राजनीतिक प्रजाति के रूप में भारत आधुनिक दुनिया का हिस्सा है। 1964 में नेहरू की मृत्यु के समय राजनीतिक लोकतंत्र को 17 साल हो चुके थे। अगर यह अपूर्ण था, तो भी यह सिर्फ दिखावे का लोकतंत्र नहीं था। एशियाई माहौल में और औद्योगिक क्रांति के बिना राजनीतिक लोकतंत्र काफी अजीब लग सकता है। इसके बाद 1989 में आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांत के संस्थापक रॉबर्ट डाल ने लिखा कि भारत आज के समय का एक प्रमुख अपवाद था। आखिर में, 2001 में एडम प्रेजेवोस्की ने लिखा : भारत में लोकतंत्र के खिलाफ संभावनाएं बेहद ज्यादा थीं।

लेकिन यह दावा मुख्य रूप से भारत के चुनावी लोकतंत्र पर ही लागू होता है। भारत ने उदार लोकतंत्र के रूप में उतना अच्छा प्रदर्शन नहीं किया है। उदार लोकतंत्र और चुनावी लोकतंत्र दो अलग-अलग अवधारणाएं हैं। उदार लोकतंत्र का दायरा व्यापक है, क्योंकि सिर्फ चुनाव ही लोकतंत्र के सभी पहलुओं को पूरा नहीं करते। ये सच है कि स्वतंत्र मुकाबले वाले चुनाव और सभी वयस्कों को वोट देने का अधिकार नहीं हो, तो आधुनिक लोकतंत्र संभव नहीं है। यह एक जरूरी शर्त है। लेकिन लोकतंत्र सिर्फ चुनाव नहीं है।

उदार लोकतंत्र की अवधारणा में यह भी शामिल है कि चुनी हुई सरकारें चुनावों के बीच कैसे काम करती हैं। एक उदार लोकतंत्र हमेशा नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा करता है, खासकर बोलने की आजादी और संगठन बनाने की आजादी की, जिसे आज के समय में सिविल सोसायटी कहा जाता है। उतना ही महत्वपूर्ण यह है कि उदार लोकतंत्र अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करता है। तर्क यह है कि बहुसंख्यक अपनी संख्या के आधार पर खुद की रक्षा कर सकते हैं, लेकिन अल्पसंख्यकों के पास इतनी संख्या नहीं होती। इसलिए अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के बिना लोकतंत्र सिर्फ बहुसंख्यकों की ताकत बन सकता है। अगर बोलने की आजादी और नागरिकों के स्वतंत्र रूप से गैर-सरकारी संगठन बनाने के अधिकार की रक्षा न हो, तो चुनावी लोकतंत्र एक कठोर सत्तावादी ताकत भी बन सकता है।

भारत का चुनावी लोकतंत्र तो काफी मजबूत बना रहा, लेकिन इसकी राजनीतिक व्यवस्था की उदारता में समय के साथ गिरावट आई है, क्योंकि बोलने की आजादी, सिविल सोसायटी और अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर हमले हुए हैं। पहले उदार लोकतंत्र कमजोर हुआ, अब चुनावी लोकतंत्र का कमजोर होना भी शुरू हुआ। व्यावहारिक रूप से एसआईआर नागरिकों के वोट देने के अधिकार पर प्रहार ही है। इसमें दो बातें काम कर रही हैं : एक, वोट देने की पात्रता के लिए दस्तावेजों का पर्याप्त होना जरूरी मानना। दो, रजिस्ट्रेशन की जिम्मेदारी नागरिकों पर डालना, जबकि परंपरागत रूप से यह सरकार की जिम्मेदारी रही है।

अमेरिका में- जहां वोट देने की पात्रता के लिए दस्तावेजों के पर्याप्त होने की अवधारणा शुरू हुई थी- एसआईआर जैसे विचार को सिद्धांत रूप में "वोटर सप्रेशन" यानी मतदाताओं को वोट देने से रोकना कहा जाता है। ऐतिहासिक रूप से अश्वेत और गरीब हिस्पैनिक मतदाता इससे सबसे ज्यादा प्रभावित हुए हैं। तो लोकतांत्रिक गिरावट का सामना अमेरिका भी कर रहा है।



दैनिक जागरण

Date: 15-10-26

नशे से जूझता पंजाब

संपादकीय

लंबे समय से नशे की समस्या से जूझ रहा पंजाब ड्रग्स तस्करी रोकने में किस तरह नाकाम है, इसका उदाहरण है पंजाब पुलिस के एक कांस्टेबल के घर से 40 करोड़ रुपये की हेरोइन बरामद होना। इस कांस्टेबल की ड्यूटी ही ड्रग्स तस्करी रोकने की थी, लेकिन वही इस अपराध में लिप्त पाया गया। यह एक तरह से बाड़ खेत को खाए वाला मामला है। पंजाब में ड्रग्स के धंधे में लिप्त लोगों से लड़ना कितना कठिन है, इसका एक अन्य उदाहरण वह घटना भी है, जिसमें नशे के खिलाफ आवाज उठाने वाले एक व्यक्ति की हत्या कर दी गई। इसके पहले भी ऐसे लोगों को धमकियां मिली हैं या फिर उन पर हमले हुए हैं। पंजाब से हर दिन ऐसी खबर आती है कि कहीं ड्रग्स की खेप बरामद की गई, कहीं ड्रग्स तस्करी का नेटवर्क ध्वस्त किया गया, कहीं ड्रग्स तस्कर गिरफ्तार किया गया या फिर नशे के लती किसी युवा ने दम तोड़ दिया। एक समय था जब मादक पदार्थों की पहुंच और उसका सेवन शहरी इलाकों तक ही सीमित था, लेकिन अब तो गांवों में भी तरह-तरह की सिंथेटिक ड्रग्स पहुंच रही हैं। इससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि जगह-जगह नशा मुक्ति केंद्रों के साथ नशा मुक्ति अभियान भी चल रहा है, क्योंकि नशे के लती युवकों की संख्या कम होने का नाम नहीं ले रही है। अनेक युवा असमय ही काल के गाल में समा जा रहे हैं या शारीरिक-मानसिक रूप से इतने अशक्त हो जा रहे हैं कि परिवार वालों के लिए बोझ बन जा रहे हैं। राज्य में नशे के आदी लोगों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। युवक ही नहीं, युवतियां भी नशे की लत का शिकार बन रही हैं।

जो पंजाब एक समय हष्ट-पुष्ट और मेहनतकश युवाओं के लिए जाना जाता था, वहां के तमाम युवा आज नशे की लत का शिकार होकर अपनी सेहत और अपना भविष्य बर्बाद कर रहे हैं। इसी कारण सेना और अर्धसैनिक बलों को शारीरिक एवं मानसिक रूप से सक्षम युवा मिलने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। यह स्थिति यही बताती है कि पंजाब में नशे की उपलब्धता ने एक गंभीर संकट खड़ा कर दिया है। यह निराशाजनक है कि पंजाब में जो भी पार्टी इस बड़े वादे के साथ सत्ता में आई कि वह राज्य को ड्रग्स की समस्या से मुक्ति दिलाएगी,

वह नाकाम सी दिखती है। इस नाकामी के मूल में राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी नजर आती है। पंजाब में ऐसे नेताओं की कमी नहीं, जिन पर ड्रग्स तस्करों को संरक्षण देने के आरोप लगते रहते हैं। इससे इनकार नहीं कि पाकिस्तान पंजाब की युवा पीढ़ी को बर्बाद करने के लिए ड्रग्स भेज रहा है, लेकिन वह ऐसा इसीलिए कर पा रहा है, क्योंकि राज्य में ड्रग्स का धंधा करने वाले काबू में नहीं आ पा रहे हैं। पंजाब नशे की जकड़न से तभी मुक्त होगा, जब इस समस्या से युद्धस्तर पर निपटा जाएगा।

जनसत्ता

Date: 15-10-26

एआई के जोखिम का बढ़ता दायरा

अभिषेक कुमार सिंह



मनुष्य के लिए तकनीक अब एक जरूरी साधन बन गई है। वह कल्पनाओं में नए रंग भर रही है और वर्तमान से भविष्य तक की अनेक योजनाओं को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इंटरनेट, सोशल मीडिया और अब कृत्रिम मेधा यानी एआई ने तकनीक को ऐसे-ऐसे मंच प्रदान किए हैं, जिनके जरिए एक आम इंसान अपने सपनों को हकीकत में बदलने की कोशिश करता है। इसका उदाहरण हाल में एआई की मदद से आभासी दुनिया में अस्सी के दशक की अपनी

तस्वीरें तैयार करने और उन्हें प्रचारित करने को लेकर मची होड़ है। यह रुझान हमें एक नई डिजिटल तकनीक से रूबरू होने का मौका दे रहा है, जिससे लोग बिना खर्च किए अपनी पुरानी यादों में लौट सकते हैं। मगर अहम सवाल यह है कि क्या सच में यह सुविधा मुफ्त है या इसकी कोई लागत नहीं है? क्या इस तकनीक से मनुष्य और धरती को कोई खतरा नहीं है?

दरअसल, सोशल मीडिया पर प्रचारित हो रहे इस तकनीकी प्रबंध का काम यह है कि इसमें लोग अपनी किसी मौजूदा तस्वीर को एआई की मदद से पलभर में ऐसी छवि में बदल सकते हैं, मानो वह तस्वीर किसी पुराने फोटो स्टूडियो में खिंचाई गई हो। यह तरकीब लोगों को उस दौर में ले जाती है, जिसमें वे कभी रहे थे। मगर सवाल इन तस्वीरों में नहीं, बल्कि उनके पीछे की प्रक्रिया में है। स्क्रीन पर लगभग मुफ्त दिखने वाली इस सुविधा के निर्माण में दुनिया में कहीं कोई मशीन काम करती है, इसके लिए बिजली खर्च होती है, सर्वर को ठंडा रखने के लिए पानी का इस्तेमाल होता है और इस पूरी प्रक्रिया के संचालन में और भी कई तरह के संसाधनों का उपयोग

होता है। डिजिटल दुनिया में 'अमूर्त' दिखने वाली चीजें भी भौतिक संसाधनों से बनती और संचालित होती हैं। ऐसे में बड़ा सवाल यह है कि क्या एआइ हमें डिजिटल उपभोग की ऐसी दुनिया में ले जा रहा है, जहां उपयोगकर्ता को उसकी कीमत का एहसास नहीं होता?

पिछली यानी बीसवीं सदी में उपभोग को पहचानना आसान था। पेट्रोल-डीजल से गाड़ी चलती थी, तो ईंधन खर्च, एयर कंडीशनर चलने पर बिजली खर्च और इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के इस्तेमाल के पर्यावरणीय प्रभाव सार्वजनिक बहस का हिस्सा बनते थे। इसी से 'कार्बन उत्सर्जन' और 'टिकाऊ उपभोग' जैसी अवधारणाएं आईं। मगर इक्कीसवीं सदी के डिजिटल उपभोग ने इस संबंध को लगभग अदृश्य कर रखा है। हम गूगल पर सर्च करते हैं, क्लाउड में हजारों तस्वीरें रखते हैं, वीडियो स्ट्रीम करते हैं, एआइ से सवाल पूछते हैं, तस्वीरें और वीडियो बनाते हैं। अब उपयोगकर्ता के सामने सिर्फ एक स्क्रीन है। उसके पीछे मौजूद डेटा सेंटर नजर नहीं आता है। इसलिए भ्रम पैदा होता है कि डिजिटल चीजों की शायद कोई भौतिक लागत नहीं होती। हमें इसका पता नहीं चलता है कि 'क्लाउड' वास्तव में आसमान का कोई बादल नहीं, बल्कि धरती पर मौजूद विशाल कंप्यूटिंग ढांचा है, जहां हर खोजबीन, सवाल-जवाब, तस्वीर-वीडियो निर्माण के लिए भी संसाधनों का इस्तेमाल होता है। अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेंसी (आइईए) के मुताबिक, वर्ष 2024 में दुनिया के डेटा सेंटरों ने करीब 415 टेरावाट-घंटे बिजली का इस्तेमाल किया, जो वैश्विक खपत का डेढ़ फीसद था। यह मांग पिछले दो वर्षों में कई गुना बढ़ी है, क्योंकि अब एआइ मॉडल तेजी से विकसित हो रहे हैं और उनका इस्तेमाल किया जा रहा है। सिर्फ बिजली ही नहीं, बल्कि बड़ी मात्रा में पानी की खपत ने भी डेटा सेंटरों को धरती और मनुष्य के लिए खतरे का कारक बना दिया है। आइईए का अनुमान है कि फिलहाल ये डेटा सेंटर करीब 560 अरब लीटर पानी हर साल सोख रहे हैं, जो वर्ष 2030 तक 1,200 अरब लीटर सालाना तक हो सकता है। हालांकि, एआइ की मदद से तस्वीर बनाने में आमतौर पर यही लगता है कि यह पलभर का काम है और इसकी लागत भी मामूली होगी, लेकिन जब यह प्रक्रिया अरबों दफा दोहराई जाती है, तो इसकी लागत भी बढ़ती जाती है।

यह डिजिटल उपभोग की नई अर्थव्यवस्था है। इसमें एक व्यक्ति के स्तर पर लागत नगण्य लगती है, लेकिन वैश्विक पैमाने पर नई सुनामी प्रतीत होती है। सोचिए कि क्या हम सिर्फ एक तस्वीर पर रुकते हैं। एक तस्वीर पसंद नहीं आई तो एआइ से दूसरी, तीसरी और इसी तरह अनगिनत तस्वीरें बना डालते हैं। तस्वीरों से आगे बढ़कर आवाजें, संगीत, वीडियो डेटा और कंप्यूटिंग की मांग भी बढ़ती जाती है। ऐसे में अहम सवाल यह है कि आखिर डिजिटल उपभोग को जिम्मेदार कैसे बनाया जाए? इसके साथ एक अन्य महत्वपूर्ण मसला भी जुड़ा है- हमारा डेटा, निजता और पहचान। अगर हमें अस्सी के दशक में ली जाने वाली तस्वीरों के अनुभव का एहसास करना हो, तो हम एआइ को आज का अपना चेहरा सौंपते हैं। यह तस्वीर हमारी पहचान से जुड़ी एक निजी सूचना है। चूंकि अलग-अलग एआइ मॉडल की तस्वीरों के भंडारण, इस्तेमाल और प्रशिक्षण से जुड़ी नीतियां अलग-अलग होती हैं, इसलिए हमें यह साफ पता नहीं चलता कि हम जिस मंच को अपनी पहचान सौंप रहे हैं, डेटा को लेकर उसकी नीतियां क्या हैं।

इंटरनेट के शुरुआती दौर में लोगों ने वेबसाइटों के साथ अपना नाम और ई-मेल साझा किया। सोशल मीडिया आया, तो लोगों ने अपनी पसंद, मित्र-मंडली, परिवार, विचार और सामाजिक संबंधों को उससे साझा कर दिया। स्मार्टफोन के जरिए हमारी लोकेशन, व्यवहार और लगभग प्रत्येक गतिविधि का डेटा किसी इंटरनेट कंपनी के पास पहुंच गया। 'जनरेटिव एआइ' के दौर में हम इससे भी आगे बढ़ रहे हैं। अब मशीनों के पास हमारी तस्वीरें, आवाज, लेखन शैली और कल्पनाएं भी पहुंच रही हैं। पहले हम अपनी पहचान से जुड़ी सारी जानकारी विभिन्न मंचों पर साझा कर देते हैं, फिर सवाल उठाते हैं कि आखिर साइबर सेंधमारों को हमारी निजी जानकारियां कैसे मिल जाती हैं! आज दुनिया को अगर जिम्मेदार एआइ चाहिए, तो केवल उपयोगकर्ताओं की सतर्कता ही पर्याप्त नहीं है।

एआइ कंपनियों को भी बताना होगा कि उनके बनाए मॉडल कितनी ऊर्जा-पानी की खपत करते हैं और उपयोगकर्ता की निजता का कितना खयाल रखा जाता है। जब फ्रिज-एयर कंडीशनर खरीदते समय स्टार रेटिंग हमें बताती है कि उसकी ऊर्जा दक्षता क्या है, तो डिजिटल सेवाओं पर भी इंटरनेट-एआइ कंपनियों के लिए इसी तरह की कसौटी क्यों नहीं हो सकती। एआइ कंपनियों को यह बताना चाहिए कि उनके मॉडल के संचालन की अनुमानित लागत और बिजली-पानी जैसे संसाधनों का खर्च क्या है। इससे बेहतर और ज्यादा दक्ष तकनीक के लिए प्रतिस्पर्धा पैदा होगी। एआइ को आज रोकना न तो संभव है और न जरूरी, क्योंकि इसकी मदद से चिकित्सा, शिक्षा, विज्ञान, संचार, प्रशासन और रचनात्मक उद्योगों में नई संभावनाएं बन रही हैं। मगर संसाधनों के खर्च और उपयोगकर्ता की निजी जानकारियों के इस्तेमाल को लेकर अगर धुंधलका कायम रहता है, तो पारदर्शिता का सवाल हमेशा उठता रहेगा। इसी तरह उपयोगकर्ता को भी सजगता, संवेदनशीलता और जिम्मेदारी के साथ तकनीक का इस्तेमाल करना होगा।

यूरोप की सड़कों पर हंगामा क्यों बरपा

राहुल जैकब, (आर्थिक शोधकर्ता व वरिष्ठ पत्रकार)

दूसरे विश्व युद्ध के बाद यूरोप फिर टकराव के रास्ते पर है, लेकिन इस बार टकराव देशों के अंदर है और ज्यादातर अहिंसक है। इन टकरावों का फैसला मतदान से होगा। पिछले हफ्ते स्पेन के वामपंथी रुझान वाले प्रधानमंत्री पेद्रो सांचेज ने संसद को समय से पहले भंग करके चुनाव का एलान कर दिया। सांचेज ने यह कदम देश में आवासीय योजनाओं को तेजी से पूरा करने में दक्षिणपंथी दलों द्वारा खड़ी की जा रही बाधाओं से देश भर में उबल रहे गुस्से के बीच उठाया है। यह गुस्सा तब भड़का, जब मैड्रिड में एक 87 साल की महिला को उनके

अपार्टमेंट से इसलिए निकाल दिया गया, क्योंकि वह बढ़ा हुआ किराया नहीं दे पा रही थीं। इस घटना के बाद बड़े पैमाने पर विरोध-प्रदर्शन होने लगे हैं।

उधर, फ्रांस में सरकारी स्कूलों की खास्ता हालत के खिलाफ विगत 6 अक्टूबर को ढाई लाख से ज्यादा लोग सड़कों पर उतर आए। यह स्थिति बजट में 43 अरब यूरो की भारी कटौती से और बिगड़ गई है। यह कटौती जीडीपी के 5.4 प्रतिशत तक पहुंच चुके बढ़ते घाटे को कम करने के लिए की गई थी। इससे निपटने के लिए सरकार ने शिक्षकों की भारी कमी के बावजूद, प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों की संख्या में भारी कटौती करने का प्रस्ताव दिया था। जैसे-जैसे यह आंदोलन बढ़ा, छात्रों के साथ शिक्षक और दूसरे आंदोलनकारी भी इसमें शामिल हो गए। इसके बाद अगले साल होने वाले राष्ट्रपति चुनाव में सबसे आगे चल रही दक्षिणपंथी नेता मरीन ले पेन ने वामपंथी गुट पर हिंसा भड़काने का आरोप लगाया।

पिछले पखवाड़े इंग्लैंड के प्रधानमंत्री एंडी बर्नहैम ने अपनी लेबर पार्टी के सम्मेलन में कहा कि वह थेरवाद को खत्म कर देंगे। बर्नहैम के आम लोगों जैसे अंदाज और महंगाई से राहत देने वाले उपायों ने लेबर पार्टी की संभावनाओं को मजबूत किया है। साथ ही, नाइजेल फराज की अगुवाई वाली आप्रवासन- विरोधी 'यूके रिफॉर्म पार्टी' के कई घोटालों में फंसने से भी लेबर पार्टी को फायदा हुआ है। इस गर्मी में प्रधानमंत्री बनने के बाद बर्नहैम ने होर्मुज जलडमरूमध्य में चल रहे टकराव के जवाब में कुछ समय के लिए ऊर्जा पर टैक्स कम करने का कदम उठाया था, जिससे जनता को थोड़ी राहत मिली। उन्होंने यह भी एलान किया कि उनकी सरकार पेंशन की बढ़ती लागत पर लगाम लगाने की योजना बना रही है, साथ ही बुजुर्गों की घर पर देखभाल के लिए फंड भी जुटाएगी। वह इंग्लैंड में एक सर्वेक्षण कराने की योजना बना रहे हैं, ताकि यह पता चल सके कि क्या लोग ब्रेग्जिट को पलटना चाहते हैं ? इस महीने आने वाला इंग्लैंड का बजट उनके वादों की असलियत भी बताएगा।

हैम का यह 'हनीमून पीरियड' कब तक चलेगा, कहा नहीं जा सकता, पर विकसित दुनिया के मध्य- वाम दल लगभग एक दशक तक मैनचेस्टर के मेयर रहे बर्नमैन से कुछ सीख सकते हैं। इन दलों में बर्नहैम जैसी हिम्मत भी होनी चाहिए, जिन्होंने टेक्नोक्रैटिक नव- उदारवाद को अलविदा कहा है। उधर, जर्मनी के राष्ट्रपति फ्रेडरिक मर्ज और फ्रांस के राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रों ऐसी चिंताओं से बेपरवाह हैं, जबकि उनके देशों में दक्षिणपंथी लोक- लुभावनवादी नेताओं की लोकप्रियता तेजी से बढ़ रही है। इन दोनों नेताओं की अपने-अपने देशों में स्वीकार्यता का ग्राफ बहुत खराब है। बर्नहैम का उत्साह न्यूयॉर्क के मेयर जोहरानममदानी जैसा है, जिनकी कार्यकाल के पहले साल में जबरदस्त लोकप्रियता बढ़ी है। उन्होंने सड़कों के गड्ढे भरने जैसे मुद्दों से लेकर न्यूयॉर्क के पांचों प्रशासनिक खंडों में कम कीमत वाली किराने की दुकानें खोलने जैसे जटिल मुद्दों तक पर काम किया है।

पश्चिम में असली संकट बढ़ती ब्याज दरों के साथ- साथ अल्पकालिक कर्ज का बढ़ना है। संकट की यह बात खासकर, अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस पर लागू होती है। जाहिर है, सरकारों के लिए यह समझाना मुश्किल होता है कि पेंशन और स्वास्थ्य देखभाल पर किए जा रहे बड़े कल्याणकारी खर्च में कटौती क्यों की जाए? अगर इसे ठीक से न संभाला गया, तो बड़े पैमाने पर फ्रांस जैसे विरोध-प्रदर्शन हो सकते हैं। समस्या यह है कि पश्चिम की

सरकारों ने 2008 की मंदी और महामारी के दौरान बहुत ज्यादा खर्च किया और अब कटौती का भारी बोझ सार्वजनिक सेवाओं पर पड़ रहा है, जबकि शेयर बाजार ऊपर जा रहे हैं और घर महंगे होते जा रहे हैं। फाइनेंशियल टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार, पिछले दशक में स्पेन में किसी भी उच्च आय वाले दूसरे देश की तुलना में प्रति व्यक्ति कम घर बने हैं। आधे से ज्यादा वयस्क अपने माता-पिता के साथ रहते हैं, जबकि 2005 में यह संख्या एक तिहाई थी। इंग्लैंड की लेबर सरकार देश में नए घर बनाने के अपने लक्ष्यों से काफी पीछे चल रही है।

बढ़ती आर्थिक विषमता और घरों की कमी या महंगे घरों के तनाव वाले इस माहौल में दक्षिणपंथी या वामपंथी विचारधारा वाली सरकारों के लिए बजट में कटौती ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। इसकी एक वजह यह है कि विरोधी लोग सोशल मीडिया पर मनगढ़ंत प्रचार करने लगते हैं, जो काफी प्रचारित भी होने लगता है। हालांकि, इन दावों की स्वतंत्र मीडिया द्वारा कोई जांच नहीं की जाती, जैसे प्रवासियों की भारी आमद या सरकारी खर्च में कटौती की बातें। इस आम असंतोष के साथ यह बात भी जुड़ जाती है कि विकसित देशों में नौकरियां पैदा होने की रफ्तार धीमी पड़ने से नए अभ्यर्थियों पर बुरा असर पड़ता है। भारत भी इसका शिकार है। इन सब वजहों से पश्चिम में कई राजनीतिक संकट पैदा हो सकते हैं। इटली में युवाओं में बेरोजगारी अब 20 प्रतिशत है। यहां तक कि नौकरियां पैदा करने के मामले में भरोसेमंद रहा अमेरिका में भी युवाओं में बेरोजगारी दर सात प्रतिशत है, जो बुजुर्गों की तुलना में दोगुनी है।

बहरहाल, सोमवार (5 अक्टूबर) की सुबह 5:30 बजे पेरिस में मेडिकल कॉलेज के बाहर छात्रों के विरोध-प्रदर्शन के शोर से मेरी नींद खुली। जैसे-जैसे दिन आगे बढ़ता गया, इसकी सड़कों पर विरोध-प्रदर्शन और तेज होते गए। आयोजकों का दावा था कि पूरे देश में प्रदर्शनकारियों की कुल संख्या पांच लाख थी। हैरानी की बात यह थी कि मेरे मेजबान साथी और लगभग पूरा शहर इन सबसे बेफिक्र दिख रहे थे। खराब प्रशासन और सीमित नीतिगत विकल्पों वाली हमारी दुनिया में लगातार बनी रहने वाली राजनीतिक निराशा अब आम बात हो गई है।
